Chapter-2

द्वितीय अध्याय

नवगीत, लोकगीत और जनवाद

नवगीत, लोकगीत और जनवाद

नवगीत के कथ्य की वही जमीन है जो लोकगीतों की है, लोकगीतों में सहज मानवीय संवेदनाओं एवं सांस्कृतिक परिदृश्यों का वाचन होता है। लोक–शब्द अपने आप में सामान्य आदमी की पहचान से जुड़ा है, इसी से सम्बन्धित लोक साहित्य, लोकगान, लोक नाट्य, लोक नृत्य, लोकोत्सव, लोक मंच, लोक पर्व, लोक त्यौहार आदि रागात्मक अनुक्रम जुड़े हैं, जिनमें आम आदमी की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहचान दर्ज की जाती रही है। यहाँ लोक से संलान व्यक्ति समूह में केन्द्रित हो जाता है और अपनी वैयक्तिक संज्ञा को समष्टिगत संज्ञा में समाहित कर देता है।

लोक का परिवृत्त अंचल विशेष की परिधि तक सीमित भी है और लोकोत्तर मानवीय संवेदनाओं के विस्तृत सामाजिक पटल तक प्रसरित भी है। वस्तुतः सामाजिक संस्कृति के परम्परित अनुबंधन व्यक्ति की वैयक्तिक संकुचित संज्ञा को प्रस्तार प्रदान करते हैं और व्यक्ति धीरे धीरे समाज की एक अभिन्न इकाई बनकर स्वयं समाज ही हो जाता है।

लोकगीतों का धरातल भी इसी सहज आंचलिक और सांस्कृतिक परिदृश्यों में व्याप्त विशिष्ट समाज के परिवृत्त से जुड़ा है। इसमें वर्ग और वर्ण के भेद भी हैं तथा ऊँच एवं नींच के अन्तराल भी।

निम्न जातियों या वर्णों में धोबी, तेली, नाई, खटीक, कसाई, भंगी, चमार, लुहार, बढ़ई आदि वर्ण के वृत्त समाहित हैं। इनसे इतर क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा वणिक वर्ग के भी अपने-अपने मानद स्तर तथा सामाजिक परिवेश हैं जो उन्हें लोक से जोड़ते हैं।

हम जब समाज या परिवार में निबद्ध होकर उसकी रीतियों , परम्पराओं, व्यवस्थाओं, अनुबंधनों और आचार संहिताओं को स्वीकार कर लेते हैं तो हम लोक के एक अभिन्न अंग बन जाते हैं। हमारी सम्पूर्ण पहचान लोक में समाहित हो जाती है अथवा लोक की पहचान में हम समाहित हो जाते हैं।

हमारे अपने-अपने लोक भी हैं और लोकोत्तर परिधियाँ भी हैं। लोक में रहकर हम एक विशिष्ट व्यवस्था की प्रचलित परम्परा के मानद मूल्यों में निबद्ध हो जाते हैं जबकि लोक से हटकर हमारी कोई सामाजिक या सांस्कृतिक पहचान नहीं होती।

जहाँ तक लोक गीतों की पहचान का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि ये परम्परित सांस्कृतिक परिदृश्यों में व्याप्त हमारी ऐतिहासिक धरोहरें हैं जो हमारी पूर्ववर्ती पहचान को जिन्दा रखती हैं। व्यक्ति जब समाज और परिवार में रहता है तो उसे लोक संस्कारों का अनुपालन ही करना होता है। हमारे यहाँ लोक संस्कृति सामाजिक संस्कारों में अधिक प्रसरित है, जैसे जन्म उत्सव, छठी, मास नहान, वर्षगाँठ, मुण्डन, शिखा, नामकरण, यज्ञोपवीत, बटुक, ब्रह्मचर्य, विद्यार्थी, सगाई, विवाह, गौना, गर्भाधान, गृहप्रवेश आदि के संस्कार अलग-अलग सामाजिक परिवेश में अपने-अपने

मानद मूल्यों के साथ प्रचलित होते हैं। इन सभी संस्कारों से सम्बद्ध संस्कार–गीत भी समाज में प्रचलित होते हैं, जो प्राचीन परम्पराओं के द्वारा विरासत में प्राप्त होते हैं।

शम्भुनाथ सिंह ने ठीक ही कहा है – "गीत मानव जाति का आदिम काव्य–रूप है। मनुष्य–जाति ने जब सभ्यता के विकास के प्रथम सोपान पर चरण रखा, उसी समय सामूहिक नृत्यगीत के रूप में गीत और नृत्य दोनों का एक ही साथ प्रारम्भ हुआ था। उस काल के सामुदायिक जीवन की भावनात्मक और आत्माभिव्यंजक अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन नृत्यगीत ही था। आदिम मानव जब प्रस्तर–युग में था और गुफाओं में रहता तथा शिकार द्वारा जीवन–यापन करता था, उस समय वह शिकार के उपरान्त एक साथ मिलकर नृत्य करता तथा समवेत रूप में गायन करता था। इस तरह नृत्य और गीत का तत्कालीन स्वरूप अविभाज्य था। ज्यों – ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, त्यों – त्यों सामूहिक नृत्यगीत से उसके कई तत्व अलग होकर स्वतंत्र कलाओं के रूप में विकसित होते गये। इस प्रकार आदिम सामूहिक नृत्यगीत, नृत्यकला, संगीतकला, काव्य और नाटक, इन सबका उद्भव एवं स्वतन्त्र विकास हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि काव्य की प्रारम्भिक विधा गीत ही था। क्रमशः गीत से ही काव्य की अन्य विधाएँ भी विकसित होती गयीं। इस प्रकार प्रबंध – काव्य तथा मुक्तक – काव्य का भी गीत – काव्य के समानान्तर प्रचलन हुआ।"[1]

लोकगीतों ने आज के नवगीत को एक जमीन तो दी है। संवेदना और आत्मीयता के संदर्भ में लोकराग से यह नवगीत सम्प्रेषित तो हुआ है, नवगीत का वर्ण्य इसी लोक – संस्कार से उत्प्रेरित और अग्रसर हुआ है, "विकासक्रम की एक विशेषता यह है कि विकास की पूर्ववर्ती अवस्थाओं के रूप भी परवर्ती युगों में अपने मूल रूप में अवशिष्ट रह जाते हैं। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार 'अमीबा' नामक

1. नवगीत दशक–2, प्रारम्भ भूमिका से

जल–जन्तु से जलचरों का और जलचरों से स्थलीय सरीसृप जन्तुओं का, सरीसृपों से नभचर पक्षियों का, पक्षियों से स्थलीय चतुष्पद जीवों का, चतुष्पदों से दो पांवों पर चलने वाले वनमानुषों का और वनमानुषों से आदम मानव का विकास हुआ। जीव – विकास की इस अन्तिम अवस्था में भी पूर्ववर्ती अवस्था वाली जीव–प्रजातियाँ, जैसे 'अमीबा' जल–जीव, सरीसृप, नभचारी पक्षी, स्थलचारी चौपाये, वृक्षों पर रहने वाले वानर और वनमानुष आदि आज भी वर्तमान हैं जो जीव के विकास की विविध अवस्थाओं के अवशिष्ट रूप हैं। ठीक यही स्थिति समाज और संस्कृति के विकास – क्रम की भी होती है। विश्व में मानव जाति की ऐसी जातियां आज भी वर्तमान हैं जो आदिम शिकार युगीन मानव – सभ्यता की अवस्था में ही हैं। अनेक जातियाँ परवर्ती पशुचारण युगीन सामाजिक व्यवस्था से आगे नहीं बढ़ सकी है। अनेक मानव – समूह ऐसे भी हैं जो कृषियुगीन सामन्ती समाज – व्यवस्था में ही है जिनके पास औद्योगिक सभ्यता के परिणामस्वरूप विकसित लोकतंत्र और समाजवाद की हवा तक नहीं पहुँची है। सभ्यता की वे प्राचीन एवं मध्यकालीन अवस्थाएँ संसार के विभिन्न भागों में आज भी आधुनिक औद्योगिक और वैज्ञानिक सभ्यता की समकालीन बनकर जीवित है।

पर कुछ बातें मानव जाति के लिए इतनी अनिवार्य और अपरिहार्य है कि वे सभ्यता के विकास की सभी अवस्थाओं में वर्तमान रहती हैं, भले ही उनका रूप बदलता रहता है। ''घरेलू उपयोग की वस्तुएँ जैसे – सूप, चलनी, चूल्हा – चक्की, लोटा – थाली, सुई, सिल – लोढ़ा, आदि; कृषि सम्बन्धी औजार जैसे – हल – फावड़ा, खुरपा – खुरपी, आदि; यातायात के साधन जैसे – नाव, बैलगाड़ी, घोड़ा – गाड़ी, आदि; वस्त्राभूषण जैसे – सूती और ऊनी कपड़े, अंगूठी, कंगन, चूड़ी, कान की बाली, कुण्डल, माला आदि; वस्तु – निर्माण के साधन जैसे – चर्खा, करघा, तकुआ, चाक, वसूला, छेनी, हथौड़ा, ईंटें, इमारती लकड़ी आदि – आज भी अपने

आदिम रूपों में वर्तमान हैं तथा उनके विकसित रूप भी प्रचलित हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान अतीत की आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित होता है, वह अतीत से वियुक्त हो ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में वर्तमान में अतीत परम्परा के रूप में समाहित है। परम्पराएँ ही इतिहास के विकास – क्रम की कड़ियाँ हैं। आधुनिक युगीन विकसित सभ्यता के प्रत्येक अवयव की परम्परा को अतीत में बहुत दूर तक देखा जा सकता है। हजारों वर्ष पूर्व जब वस्त्रों और उनकी सिलाई का प्रचलन हुआ था तो तकुआ और सुई का अविष्कार किया गया था। आज की औद्योगिक सभ्यता में सूती मिलों में हजारों तकुए और करघे यांत्रिक पद्धति से चलते हैं, पर मूलतः वे तकुए और करघे ही हैं। उसी तरह सिलाई की मशीन में भी सुई ही प्रयुक्त होती है। किन्तु साथ ही साथ घरेलू वस्त्र – निर्माण और सिलाई के लिए चरखे का तकुआ, हथकरघा और हाथ की सुई का प्रयोग आज भी बड़े पैमाने पर होता है।''[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक सभ्यता प्राचीन सभ्यता का ही विकसित रूप है। वह प्राचीन सभ्यता की परम्परा से पूर्णतः विच्छिन्न और सर्वथा नवीन वस्तु नहीं है। ''प्राचीन काल से लेकर आज तक परम्परागत रूप से हाथ से चलाया जाने वाला बांस या ताड़ का पंखा हो या विद्युत शक्ति से संचालित लोहे का पंखा, दोनों का काम हवा में कृत्रिम रूप से गति उत्पन्न करना है, अतः दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है। बिजली के पंखे ने हाथ के पंखे का सर्वथा उच्छेद कर दिया हो, यह भी नहीं है और न ऐसा होना सम्भव ही है। जहां विद्युत शक्ति उपलब्ध नहीं है, वहाँ हाथों का पंखा ही काम देता है। जो यह मानते हैं कि बिजली का पंखा आधुनिकता का लक्षण है और हाथ का पंखा पिछड़ेपन का, वे आधुनिकता – बोध का नहीं, बल्कि फैशन की प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। ऐसे व्यक्ति कृत्रिम जीवन के

1. उत्तरा, संपादक – बंशीधर शर्मा, बड़ौदा, अंक–6, पृ.–14

अभ्यासी होते हैं जिन्हें पेड़ की छाया में बैठकर नैसर्गिक हवा के झोंकों का सुख प्राप्त करना असभ्यता मालूम पड़ता है और जो कमरे के भीतर आने वाले हवा के झोंकों को रोककर बिजली के पंखे की कृत्रिम हवा का सुख प्राप्त करने को आधुनिकता और सभ्यता समझते हैं।''[1]

सभ्यता के क्रमिक विकास में संस्कृति का साहचर्य अनिवार्य है। संस्कृति के दिशानिर्देश पर ही सभ्यता अपना गंतव्य निश्चित करता है। सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक सोपान की परम्परा विकास की चरम परिणति के इस युग में भी अवशिष्ट रह गयी है क्योंकि आज भी उनकी प्रासंगिकता और सार्थकता बनी हुई है। काव्य के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। काव्य की जो विधाएं आदिम युग में प्रारम्भ हुई थीं, वे समाज के कुछ वर्गों में आज भी प्रचलित हैं तथा कुछ वर्गों में उनके विभिन्न विकसित रूप भी दिखाई पड़ते हैं। ''आदिम मानव–समाज में प्रचलित नृत्यगीत की विधा आज भी वनवासी जनजातियों के समूह – नृत्यगीत तथा ग्रामीण जनता के समवेत नृत्यगीतों के रूप में वर्तमान है। सभ्यता के विकास के क्रम में नृत्य से अलग होकर गीत का जो रूप एकल और समवेत गायन के रूप में प्रचलित हुआ, वह आज भी लोकगीतों के रूप में ही नहीं, शिष्ट साहित्यिक गीतों के रूप में भी वर्तमान है। ऐसे ही साहित्यिक गीतों को यूनानी काव्यशास्त्र में गीतिकाव्य (लिरिक पोयट्री) कहा गया था। भारत में समस्त वैदिक सूक्त, पाली साहित्य के गाथा–गीत, संस्कृत के 'गीत गोविन्द' की शैली के पद–गीत, नाटकों के ध्रुव गीत, प्राकृतापभ्रंश के रासक, चौपई, बारहमासा आदि मध्यकालीन आधुनिक भारतीय भाषाओं के पदगीत इसी प्रकार के गीति – काव्य हैं।''[2]

लोकगीतों ने नवगीतों की जीवन जीने के सहज संस्कार दिये हैं। यह कहना

1. नवगीत दशक–2, पृ. 9

2. धार पर हम, संपादक – विरेन्द्र आस्तीक, पृ. 19

उचित ही है कि लोकगीत ही नवगीतों के जनक हैं, क्यों मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति में प्रणय के रागात्मक भाव जन्म से ही विद्यमान होते हैं। मनुष्य अपने परिवार से ही अनुप्रेरित होकर अपनी पहचान स्थापित करता है, तथा जीने के तरीके भी तय करता है। शम्भूनाथ सिंह ने गीत के तीन रूप स्वीकार किए हैं –

1. ''लोक – जीवन में प्रचलित गीत, जिसके तीन अंग हैं – (क) नृत्य – गीत, (ख) गेय एकलगीत, (ग) गेय समवेत गीत (कोरस)। ये तीनों ही आदिम काव्य रूप हैं और आधुनिकता के इस दौर में भी वे यथावत् वर्तमान हैं।

2. सांगीतिक गीत – जिसका शिष्ट समाज में शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत और फिल्मी गीत के रूप में प्रचलन है। शास्त्रीय संगीत में इसे ध्रुपद या ध्रुवपद (पद या विष्णुपद), ठुमरी, खयाल आदि तथा सुगम संगीत में लावनी, होरी, चैती, भजन, गजल आदि नामों से जाना गया है।

3. साहित्यिक गीत–यह गीतिकाव्य का एक अंग है। वर्तमान समय में गीतिकाव्य की अनेक उपविधाएँ हो गयी हैं, जैसे प्रगीत (टेक – विहीन लघु काव्य), गीत (टेकयुक्त चरणबद्ध रचना), चतुर्दशपदी (सॉनेट), ग़जल, मुक्तछन्द में बद्ध और छन्दमुक्त लघु कविताएं जिनके लिए 'नयी कविता' संज्ञा रूढ़ हो गयी है। इन सबकी अलग – अलग रूपगत पहचान है, यद्यपि आकार की लघुता और कथ्य को बुनावट की दृष्टि से सभी एक ही वर्ग – गीतिकाव्य के अन्तर्गत मान्य हैं। इनमें से गीत सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्य – विधा है जो वैदिक काल से लेकर अब तक अखंड धारा के रूप में प्रवाहित होता आया है।''[1]

लोकगीतों का समूचा परिदृश्य परिवार और समाज के वृत्त में अपनी सांस्कृतिक धरोहरों को दुहराने में ही प्रसरित हुआ है। परम्पराओं और रुढ़ियों के

1. नवगीत दशक–2, पृ. 10

साथ संस्कारगत संवेदनाओं की इसमें अहम् भूमिका रही है।

''नवगीत में जातीय संस्कारों की अभिव्यक्ति की दिशाएँ है – प्रकृति और संस्कृति। प्रकृति का आगामी विस्तार लोक – चेतना, आंचलिकता और दृश्यात्मक प्रकृति में हुआ है तो संस्कृति की व्याप्ति सामाजिक संस्कारों, इतिहास – संदर्भों पुरा बिम्बों एवं सामाजिक यथार्थ – साक्षेप स्थितियों के चित्रण में हुई है। नवगीत में उपर्युक्त तत्वों की उपस्थिति का निम्न चित्रण इस काव्यधारा की जातीय संस्कारों से बाहरी सम्पृक्ति का प्रमाण है।''[1]

साहित्य यदि जीवन का स्पन्दन है, तो उसमें लोक–चेतना का प्रतिध्वनित होना अनिवार्य है, क्योंकि जब–जब साहित्य ने स्वयं को गजदंती मीनारों में कैद किया है, तब–तब उसमें विकृतियों की सड़ांध भरी है। ''रीतिकालीन साहित्य इसका प्रमाण है और इसकी तुलना में एक स्वस्थ स्थिति–अर्थात् लोक – चेतना से जुड़कर साहित्य ने सदैव नया स्वास्थ्य प्राप्त किया है–को नवगीत प्रमाणित करता है। स्वातंत्र्योत्तर काल में जब मंचीय गीतकार या तो रसिक अंदाज में 'स्वानुभूति' की विवृत्ति कर रहा था या आंचलिक शब्दों की कृत्रिम अनुकृति कर रहा था, तब नवगीत ने लोक – संवेदना को अपने कथ्य के रूप में चुना। तत्कालीन कवि की संस्कार हीनता के प्रति तब सजग नवगीतकार ने चिंता व्यक्त की थी। स्वर्गीय उमाकांत मालवीय ने 'मेहंदी और महावर' की भूमिका में लिखा था – 'अपने एकांत क्षणों में मैं बहुधा बड़े खेद से अनुभव करता हूं कि मेरी पीढ़ी संस्कारों से अपेक्षाकृत बहुत ही विपन्न है। संस्कार शब्द सेयदि आपको चिढ़ है – उसका रूढ़िगत अर्थ लेकर तो आप कह सकते हैं कि वह परिष्कारों की दृष्टि से बहुत दरिद्र है।' कुछ अपवादों को छोड़कर उस समय नयी कविता का कवि महानगरीय बोध से ही अधिक पीड़ित है।

---

1. सम्यक, संपा. मदनमोहन उपेन्द्र, मथुरा, अंक–17 पृ. 3

उसने यह भुला दिया था कि भारत दो – चार नगरों तक सीमित नहीं, बल्कि ग्रामांचलों से वह दूर्वा – तंतुओं के जाल की भांति फैला है। उद्धत मीनार का बिछी हुई दूब से परिचय हो भी नहीं सकता, परन्तु नवगीत ने एक – एक तृण के साथ सहानुभूति का सम्बन्ध स्थापित किया है। इसलिए हम पाते हैं कि इसके प्रथम चरण में लोक – संवेदना की अभिव्यक्ति प्रमुख रूपेण हुई है।''[1]

लोक साहित्य में लोक संवेदना का सामान्यीकृत संस्पर्श सर्वत्र दिखाई देता है। नवगीतकारों की प्रथम जमात ने इसी संवेदना को अपने नवगीतों का कथ्य स्वीकार किया। लोक संवेदना की निसर्ग धरातल पर अभिव्यक्ति प्रारंभ में उन नये कवियों के गीतों में भी प्राप्त होती है, जिन्होंने बाद में गीत से सम्बन्ध बनाये रखना उचित नहीं समझा। भवानी प्रसाद मिश्र का गीत 'पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा – री' उस काल में रचे गये इस प्रकार के गीतों में सर्वाधिक चर्चित रहा है। प्रकृति के उत्फुल्ल परिवेश में ग्रामीण युवती के सहज उल्लास की अभिव्यक्ति इस गीत में इस रूप में हुई है:

"फुर – फुर उड़ी फुहार अलक हल मोती छापे री
खड़ी खेत के बीच किसानिन कजरी गाये री
झर – झर झरना झरे आज मन – प्राण सिराये री
कौन जन्म के पुण्य कि ऐसे शुभ दिन आये री
एक सुहागिन गात मुदित मन साजन परसे री,''[2]

सन् 1950 के आसपास जो हिन्दी गीत लिखे गये थे उनमें आंचलिक संस्कृति के परिदृश्य अधिक मुखर थे। इसी काल में रचित केदारनाथ अग्रवाल के गीत

1. हिन्दी नवगीत उद्‌भव और विकास, राजेन्द्र गौतम, पृ. 193
2. भवानी प्रसाद मिश्र, दूसरा सप्तक, पृ. 14

भी ग्रामीण संस्कृति के रंग में ही रंगे हैं, बल्कि इन गीतों की लय – चेतना एवं शब्द – चयन लोक – गीतों के अपेक्षाकृत अधिक समीप हैं। इसीलिए इन गीतों में सादगी के साथ – साथ आवेगमयी करुणा का तरल प्रवाह है। इन गीतों में सामाजिक आचार – धर्मिता एवं उत्सव – सापेक्षता भी है, जो इन्हें लोक – जीवन से अपेक्षाकृत गहरी संम्पृक्ति प्रदान करती है। इस संदर्भ में उनकी निम्न पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं:

"धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूं बंसुरिया गोपाल की
बेला है गीतों के ताल की
धीरे उठाओ मेरी पालकी।।[1]"

इससे स्पष्ट होता है कि लोक – संवेदना की अभिव्यक्ति उस काल में लोक – गीतात्मक शिल्प के ग्रहण से संभव हुई है, लोक – गीतों की आत्मा को यदि 'वंशी और मादल' में ठाकुरप्रसाद सिंह ने उतारा है, तो 'बच्चन' ने 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे : चौंसठ खूंटे' संकलनों में लोकधुनों पर आधारित गीत लिखकर इस दिशा में कदम बढ़ाये। अनुभव के स्तर पर लोक – संवेदना की ताजगी हमें नागार्जुन में मिलती है। यथा :

"बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने तालमखाना खाया
गन्ने चूसे जी भर
बहुत दिनों के बाद।[2]"

उसी काल में शंभुनाथ सिंह के 'टेर रही प्रिया' तथा 'पुरवैया धीरे बहो' जैसे

1. केदारनाथ अग्रवाल, दूसरा सप्तक, पृ. 19
2. नागार्जुन, वही, पृ. 37

गीतों में भी लोक – संवेदना को ही मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। लोक – गीतों की लय एवं छंद – चेतना का अनुकरण इस युग में विशेषकर हुआ है। शंभुनाथ जी ने 'माध्यम मैं' में संकलित अपने गीतों में इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है। एक अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैः

"पिया न आये आमों में
आ गया टिकोरा री
बंसवारी में मैना बोली
पीपल पर कोयलिया
आंगन की चंदन गछिया पर
बोला कागा छलिया
दूर किसी झुरमुट में बोला
बन का मोरा री।"[1]

लेकिन सन् 1960 तक के इन गीतों में इस लोक–संवेदनात्मकता की एक सीमा है। ''एक तो ये गीत प्रेम के विरह–मिलन के चित्रों तक सीमित हैं अथवा ऋतु–सापेक्ष प्रकृति–चित्रण तक सीमित हैं, दूसरे उनमें विषय को अनुभवात्मक सम्प्रेषणीयता देने की अपेक्षा उसे ऊपरी तौर पर ग्रहण किया गया है। इस प्रक्रिया में गीत की अंतःस्फूर्त चेतना को अकसर आघात लगा है। परन्तु इसके बाद के गीतों की स्थिति भिन्न है। इन गीतों का रचयिता जन–सामान्य के सुख–दुःखात्मक अनुभवों का सहभोक्ता है। और उसने लोक के सुख–दुःख को अपने सुख–दुःख से मिलाकर उसे उस भाषा एवं शिल्प में अभिव्यक्त किया है, जो लोक–चेतना के अधिकाधिक

1. शम्भूनाथ सिंह, नवगीत दशक, पृ. 18

समीप है। नवगीत के अग्रिम विकास में लोक – संवेदना की अभिव्यक्ति नईम, गुलाबसिंह, ओम् प्रभाकर, अनूप 'अशेष' एवं दिनेश सिंह में विशेष रूप से हुई है। इस संदर्भ में अनूप 'अशेष' का संकलन 'लौट आयेंगे सगुन पंछी' उल्लेखनीय है।''[1]

लोक साहित्य का उद्‌गम वेदों से निस्सृत माना जाता रहा है, हिन्दी काव्य में राग, छन्द और रस का सन्निवेश ऋग्वेद और सामवेद से उत्प्रेरित माना गया है, वैसे तो हमारे यहाँ हर चीज का उद्भव वेद से ढूंढ़ने का चलन है। अगर मैं भी इस चलन को ध्यान में रखकर कहूं कि वेदों के मन्त्र और सूक्त अपने उदात्त – अनुदात्त और स्वरित आरोह – अवरोहों में पढ़े जाने के कारण गीत हैं तो इसका कोई कदाचित् ही विरोध करना चाहेगा। गीता तो खैर गीत है ही। संस्कृत के तमाम वार्णिक छन्द पहली कड़ी पकड़ते ही अन्तिम कड़ी तक झनझना उठते हैं। देवताओं से संबंधित स्तोत्र इसके उदाहरण हैं। उनमें बहने वाले संगीत की ही महिमा है। ''यही परम्परा धीरे–धीरे उतरकर हमारे 'रामचरित मानस' जैसे काव्यों और 'आल्हा' जैसे लोक–काव्यों में आई। इन्हें आप पहले सपाट गद्य के ढंग से पढ़कर देखें और फिर उनके प्रचलित स्वरों में गुनगुनाकर, तो अन्तर समझ में आयेगा। मुझे कई बार लगा है कि कविता को जो काव्य – धारा कहा गया है वह गीत के बारे में और भी सही है। गीत धारा तो है ही कहीं 'प्रसन्न, और कहीं स्वरवती; किन्तु वह केवल धरती पर बहने वाली धारा तो है ही नहीं है, कई बार आकाश में पंक्तिबद्ध उड़ने वाले कल – कल स्वर के स्वामी, पंछियों की लहर भी है जो बिना किसी तट से टकराए स्पंदनशीलता देती रहती है; और सुबह – शाम अपने स्वर की मुहर लगाकर दिन को दिन और रात को रात बनाती है।''[2]

लोकगीतों में वर्ण्य रुढ़ और अभिधायरक ही अधिक होता है जबकि नवगीत में

1. हिन्दी नवगीत, उद्‌भव और विकास, राजेन्द्र गौतम, पृ. 194
2. नवगीत, इतिहास और उपलब्धि – सुरेश गौतम, पृ. 7

लोकाग्रही संस्कृति के स्वर प्रासंगिकता लिए हुए समसामयिक संदर्भों से जुड़ जाते हैं। लोक – साहित्य का उद्‌गम मानव सभ्यता के विकास क्रम से जुड़ा है जहाँ समाज की निबंधित व्यवस्था में एक निश्चित आचार संहिता का अनुबंधन संयोजित किया जाता है। यह संचयन की व्यवस्था मानव समाज के लिए मानव – समाज द्वारा ही निर्दिष्ट की गई है। कोई एक व्यक्ति इसका परिचालक या प्रबंधक नहीं है।

वेदों में भाषाकार को उद्‌गाता कहा गया है। इससे साबित होता है कि भाषा का जन्म गेयता से हुआ है। आदिम भाषा का रूप गेय रूप है। तब उद्‌गाता प्रकृति को गा रहा था और गीत के रूप में भाषा का आदिम स्वरूप बन रहा था। यही कारण है कि बाद में जब वाङ्मय का विकास हुआ तो अनेक विषयों में जो कुछ लिखा गया वह छन्दों में ही लिखा गया। उस समय गद्य का कोई स्वरूप ही नहीं था। आदिम सभ्यता के उस गीतकार को यह पता ही नहीं था कि जैसे – जैसे हमारी कर्म चेतना से सभ्यता संस्कृति बदलेगी, भाषा भी वाङ्मय में और वाङ्मय भी अलग – अलग बटते हुये महाकाव्यों, खण्ड काव्यों और वैचारिक काव्यों में बँट जायेगा और काव्य विधाओं में जो गीत तत्व है वह अनदेखा हो पड़ा रह जायेगा।

सच बात तो यह है कि तब अपने गीत का स्पष्ट कोई भारतीय स्वरूप नहीं था, अन्यथा गीत गोविन्द से मीरा के पदों तक आते आते गीत की धारा को एक अलग पहचान मिल जानी चाहिए थी। तब गीत काव्य की अनेक विधाओं में एक तत्व के रूप में विद्यमान था। हमारे समीक्षाकारों की उस तरफ दृष्टि ही नहीं गई। उसको अलग से नहीं परखा गया कि गीत एक स्वतन्त्र विधा के रूप में भी हो सकता है। दरअसल हम जिस आधुनिकता की चर्चा करते हैं वह योरोप की देन है। 19वीं शताब्दी के अन्त तक हमारे गीत का स्वरूप योरोप में लिरिक की समीक्षाओं से स्पष्ट होने लगा था। आगे चलकर छायावाद का जन्म हुआ और 'तुमुल कोलाहल कलह में,

मैं हृदय की बात रे मन'' जैसी श्रेष्ठ रचनाओं का जन्म हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि अब तक साहित्य में जितने भी आन्दोलन हुये वे सब पश्चिम के आन्दोलनों के पीछे – पीछे चले हैं। चाहे वह प्रयोगवादी कविता हो, नई कविता हो या मार्क्सवादी विचारधारा के जनगीत हों।''[1]

हम लोक व्यवहार में या अपनी परिवर्तित जीवनशैली में कितने भी आधुनिक बन जाने के यत्न करें, किन्तु हमारी अन्तस, चेतना और हमारी भावात्मक संवेदनाएँ हमारे अतीत की सांस्कृतिक धरोहरों को अस्वीकार नहीं कर सकतीं। ''मनुष्य पर धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक संघर्षों का और उनके इतिहासों का इतना दबाव है कि अब उसके लिए दिनचर्याओं की वास्तविकता, उसमें छुपी सत्यता की परख और उसकी अनुभूति बड़ी मुश्किल में पड़ गई है। मनुष्य में जब तक जीवन प्रकृति की और उसके खेल की वास्तविक समझ नहीं पैदा होगी तब तक सभ्यता चाहे जितनी भी आधुनिक हो जाये, वैज्ञानिक हो जाये, वह सुखी और आनन्दित नहीं रह सकेगा। इस पूरे परिवेश से कटकर गीत का अलग क्या कोई अस्तित्व हो सकता है? अतः आज के गीत के मर्म को समझने के लिए भी हमें गीत के मूल स्वभाव–संस्कारों और उसके रागों की जड़ों तक पहुँचना पड़ेगा। चौथी और अन्तिम बात के रूप में वादों, विधाओं और परिभाषाओं की भीड़ से अलग हटकर गीत के मर्म तक पहुँचने का प्रयास किया है।''[2]

जहाँ तक नवगीत में लोक – साहित्य के संस्पर्श का प्रश्न है, वहाँ यह स्पष्ट आभासित है कि नवगीत की सांस्कृतिक लोक विरासत आधुनिक परिवेश में भी प्रासंगिक है, जबकि परम्परित लोकगीतों में भी आधुनिक बोध के तथ्य अन्वेषित किए जा सकते हैं।

1. धार पर हम – वीरेन्द्र आस्तिक, पृ. 15
2. वही – सुरेश गौतम, भूमिका से

ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी, हाड़ौली, राजस्थानी, मागधी, ब्रजबली आदि में प्रचलित लोकगीतों की आधुनिक प्रासंगिकता स्थान – स्थान पर आभासित है। ब्रजभाषा का एक लोकगीत है –

''ज्वानी सरर सरर सर्रावै
जैसे अँगरेजन कौ राज।
अँगरेजन कौ राज जैसैं उड़ै हवाई जहाज,
धोरी भई तोप कौ गोला
गाम भए जरी खाक,
बूढ़े बड़े ज्वान अरु धोरा,
जरि जरि है गए राख।
उमर जवानी की आँधी में
उड़िगे तखत औ ताज।
ज्वानी सरर सरर सर्रावै।''[1]

इसी प्रकार :–

''अकेली डोलै पीहर में
जैसे ताल पुलास की घोड़ी
अरे या पै को होयगौ असवार।''[2]

यदि नवगीतों में इसी लोकगीत के सहज राग को नए परिवेश में अनुभव करें तो कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

1. लोक भारती – नटवर नागर, पृ.50
2. वही, पृ. 53

''धान जब भी फूटता है।

एक बच्चा दुधमुहा।

किलकारियाँ भरता।

लिपट जाता हमारे पांव में।।''[1]

इसी तरह :–

लड़की लीप रही है। आँगन

लगता है जैसे उत्सव है।

माँ की धोती रँग कर लड़की

चली कुँए पर उसे सुखाने।

छोटा भाई चढ़ा पेड़ पर

डोली में झंडियाँ लगाने।

मालिन की बेटी ले आयी

माला – फूल, आम्र पल्लव है।

पोथी बांच रहे हैं पंडित

साधू की कन्या कलावती।

पुरुषों में चर्चा मुखिया की

भाग गई बेटी प्रभावती।

कुछ भी नहीं सुनाई पड़ता

बच्चों का ऐसा कलरव है।

---

1. बुद्धिनाथ मिश्र – धार पर हम, पृ.121

''बैल नहा कर खड़े हुए हैं
लड़की लगा रही है टीका।
हल्दी, अक्षत, दही थाल में
दिया जल रहा देशी घी का।
महक रहा है धुआँ हवन का
समिधा है गुड़ घी है जव है।''[1]

लेकाग्रही रुझान के सशक्त हस्ताक्षर कुँअर बेचैन कहते हैं –

''बेटियाँ –
शीतल हवाएँ हैं
जो पिता के घर
बहुत दिन तक नहीं रहती
ये तरल, जल की परातें हैं
लाज की उजली कनातें हैं
है पिता का घर ह्रदय जैसा
ये ह्रदय की स्वच्छ बातें हैं
बेटियाँ –
पावन ऋचाएं हैं
बात जो दिल की
कभी खुलकर नहीं कहतीं

---

1. अवध बिहारी श्रीवास्तव, धार पर हम – संपा. वीरेन्द्र आस्तिक, पृ. 79

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

है चपलता तरल पारे की
और दृढ़ता ध्रुव सितारे की
कुछ दिनों इस पार हैं लेकिन
नाव हैं ये उस किनारे की
बेटियाँ –
ऐसी घटाएं हैं
जो छलकती हैं –
नदी बनकर नहीं बहती।''[1]

नवगीत को लोक गीतों के और अधिक संस्पर्शित करने का प्रयास विष्णु विराट के स्वर कहते हैं –

''आटें–बाटें दही चटाके
पटवारी ने कहां पटाके
कानाबाती फुस फुस फुस
तू भी खुश भैया मैं भी खुश।''[2]

इसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं –

''ओसारे सोया चूल्हा / उठा मसलते दोनों आँख।
लगी उसनने चून दुल्हनियाँ / बुतरु दावै बाँई काँख।
हँसी खुशी में डूबा आँगन / लगा बहकने खर खलिहान।।''[3]

---

1. कुँवर बैचेन, धार पर हम, पृ. 70
2. हाथ से छूटे कबूतर – पृ.37
3. शब्दों की पीड़ा – मधुसूदन साहा – पृ.18

मधुसूदन साहा इसे अधिक स्पष्ट आयाम देते हैं –

"लोकगीत–सी तुम लगती हो।

दंतकथा–सा गाँव।"[1]

लोक साहित्य के संदर्भ में महेश अनघ लोक शब्द को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं –

"आमतौर पर लोक का आशय ग्रामीण जनजीवन अथवा आंचलिक संस्कृति की परंपरा से लिया जाता है। यह ठीक नहीं है. लोक के समग्र में नगरीय जीवन एवं समीपस्थ सांस्कृतिक परिवेश भी शामिल रहता है। खास तौर से कविता के संदर्भ में जिसे कहा जाए, वहाँ मनुष्यमात्र की जीवनशैली एवं संवेदना को वस्तु समझना चाहिए। उदाहरण के लिए, लोकगीत को हम एक रूढ़ अर्थ में लेते हैं, अर्थात् वह गीत, जिसे ग्रामीण अंचलों में अवसर विशेष पर समवेत गाया जाता है। उस गीत का कोई रचनाकार होना आवश्यक नहीं, उसके पाठ में परिवर्तन की छूट सभी को रहती है और उसे ससंदर्भ उपयोग के लिए पीढ़ियों को विरासत में दे दिया जाता है। इसी कारण वह लोकगीत अजर अमर है।"[2]

किन्तु रचना के स्तर पर हम चर्चा करें तो लोक को समग्र रूप में देखना होगा और तदनुसार लोकधर्मी गीत की पहचान करनी होगी। गीत में लोक वस्तु के तीन प्रमुख आयाम हैं। दृष्यमान विराट प्रकृति, मनुष्यमात्र का सांस्कृतिक जीवन और गैर टकसाली भाषाई मुहावरे। इस अर्थ में नगरीय जीवन और बौद्धिक मनुष्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि रहन सहन, दिनचर्या एवं बोलचाल बहुत कुछ परिवेश पर निर्भर करता है। मुख्यतः उपार्जन की विवशता से बँधा आदमी अपने लौकिक संवेग

1. मधुसूदन साहा, शब्दों की पीड़ा, पृ. 19

2. भव्य भारती – संपा. विष्णु विराट, अंक–7, पृ. 7

को अंतस्थल में रख छोड़ता है, और बाहर से पारिस्थितिक जीवनशैली अपना लेता है। तथापि, उसकी मानवीय संवेदना समाप्त नहीं होती। यही कारण है कि लोक संवेदना से संपृक्त सबसे अच्छा साहित्य नगरीय लेखकों द्वारा लिखा गया है।

किन्तु लोकधर्मी रचना के साथ विसंगति यह है कि अधिकांश रचनाकार अपने आरोपित पाण्डित्य, वैचारिक प्रतिबद्धता एवं लाभाशयी खेमे के दबाव में नगरीय आवरण से प्रेरित हो कर कृत्रिम साहित्य रचने लगते हैं। वस्तु के स्तर पर वे ग्लोबल भौतिकवाद पर पहुँच जाते हैं, शिल्प के लिए वे उत्तर आधुनिक हो जाते हैं और भाषा के नाम पर संस्कृत फारसी के पुरखों को कब्र से उखाड़ कर ले आते हैं। इस कारण भाव में लोक संवेदना के होते हुए भी रचना का आवरण काठ का अजूबा बन कर रह जाता है। जैसे मकई के कच्चे दाने को मसाले में छोंक कर बनाया हुआ 'फजीता'।

''सत्यानाश हो बुद्धिमान लोगों का, जिन्होंने असीम सत्य की बागड़बंदी करके खेत बना लिये, खेत में मेढ़ बनाकर क्यारियाँ बना लीं। मैदान में प्लाट काटे गये और प्लाट में दीवारें खड़ी करके खुद उनमें कैद हो गये। गाँव रामपुरा, जिला नीमच की निरक्षर संतों कहारिन ने कहा–कविता करता है सो कवि है। संतो हजार साल से यही जुमला कहती आ रही हैं, एक हम हैं, प्रभा मंडल से देदीप्यमान चेहरेवाले, जिन्होंने दृष्य श्रव्य, गद्य पद्य में काव्य की हदबंदी की, फिर प्रबंध मुक्तक गीति में खेत काटे, फिर छंद अछंद को अलग किया–यह तेरा वह मेरा। फिर भी मन न भरा तो गीत को नए पुराने में विभाजित किया और फिर नए को भी अपनी–अपनी बैठक में सामने लायक स्वरूप के हिसाब से अगीत–प्रगीत–नवगीत–अनुगीत आदि नाम दे कर उसे संतो कहारिन से हजार कोस दूर कर दिया। अब विद्वान जी उत्तर आधुनिक कविता पर पोथी रच रहे हैं और संतो आँखें फाड़ कर विद्वान जी को देख रही है–कौन लोक के वासी हो महाराज जी।''[1]

1. नवगीत नई दस्तक, महेश अनघ – संपा. निर्मल शुक्ल, लखनऊ, पृ. 37

''लोक हमेशा खुले मैदान में रहता है। मैदान में तार की फेंसिंग करने से लोक की उपेक्षा और समाज का निर्माण होता है। समाज एक घेरे में रहता है। घेरे के बीच में दरी बिछाने से समाज की अवमानना और वर्ग का निर्माण होता है। वर्ग एक सभागार में रहता है। सभागार के नए किनारे पर मंच बना देने से वर्ग का तिरस्कार और विशिष्ट का निर्माण होता है। लेकिन विराम तो यहाँ भी नहीं है। मंच के भी मध्य भाग में गलीचा बिछा दिया जाता है, और गलीचे के एक भाग में तकिया रख दिया जाता है, तब एक नामवर या एक राजेन्द्र यादव या एक मुक्तिबोध दिखाई देने लगता है। उधर संतो कहारिन कहती है – कवि कोई एक कैसे हो सकता है। कवि, सभापति कैसे हो सकता है। कवि, हाकिम कैसे हो सकता है। हाकिम तो संतो है। क्योंकि संतो ही लोक है। और यह कि जीवित वही जो लोक में है। जो लोक में नहीं, वह ताबूत में है। मानव जाति के इतिहास में अभी तक केवल एक व्यक्ति हुआ है जो सौ फीसदी लोक से जुड़ा रहा, उसका नाम है, श्री कृष्ण। इसी कारण उसकी वाणी महागीत है, गीत है।''[1]

लोक गीतों की छाप नवगीतों पर बहुत गहरी है, धुन, राग और कथ्य में इसे स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। महेन्द्र नेह का एक गीतांश देखिए –

''हम का जानी

रे हम का जानी

सहर में मचा हल्ला

राजे ने बाँटे, सहर में गुब्बारे

लोग ठगे रह गये

हम का जानी ?

1. भव्य भारती, संपा. विष्णु विराट, अंक – 17, पृ. 13

राजा ने मारे, सहर में कबूतर
लोक सोते रह गये
हम का जानी ?

राजा की थाली में हिरनी की आँखें
लोक रोते रह गये
हम का जानी ?

राजा ने लूटी, मोहल्ले की इज्जत
लोक खड़े हो गये
हम का जानी ?''[1]

इसी प्रकार महेन्द्र नेह का यह गीत देखिए :-

''मारे गये बबुआ
हो मारे गये रमुआ
सड़क हुई चौड़ी
मारे गये बबुआ !

लोहे के हाथी और
लोहे के घोड़े
बेलगाम हो कर के
सड़कों पे दौड़े
मची है होड़ा – होड़ी
मारे गये बबुआ !

1. नवगीत नई दस्तक, संपा. निर्मल शुक्ल, पृ. 113

नई – नई घोड़ी
विलायत से आई
नये – नये रंगों की
महफिल सजाई
बिदक गई घोड़ी
मारे गये बबुआ !

सड़कों पे निकली
मिनिस्टर की गाड़ी
गुण्डे अगाड़ी
पुलिसिए पिछाड़ी
अजब गठजोड़ी
मारे गए बबुआ !

चंदा और सूरज सी
जोड़ी रुपहली
जालिम जमाने के
पहियों ने कुचली
बिगड़ गई जोड़ी
मारे गये बबुआ !''[1]

अधिकांश नवगीतों के संस्कारों की जमीन लोक से सम्बद्ध रही है, यह तथ्य दूर – दूर तक अनुभव किया जा सकता है।

---

1. महेन्द्र मेह, नवगीत नई दस्तक, संपा. निर्मल शुक्ल, लखनऊ, पृ. 118

नवगीत और जनगीत : जनगीत जनवाद का उद्घोषक रहा है। लोकगीत का अभिजातीय संस्कार बनकर जन्मा यह जनगीत धीरे – धीरे सयाना होकर समय की स्वार्थपरक राजनीति से अथवा पूर्वाग्रही व्यवस्था की स्वार्थपरक संधियों से जुड़ गया।

गीत की जनवादी संचेतना के नाम पर कोई अजूबा चीज सामने नहीं आया किंतु नवगीत के भावलोक में आम आदमी की उपस्थिति को दर्ज कराने की आरोपित व्यवस्था को ही तथाकथित पूर्वाग्रही लेखकों ने जनवाद की संज्ञा दी।

''यह हरापन नहीं टूटेगा' के रचनाकार रमेश रंजक इसके प्रबल उद्घोषक माने गए। शंकर द्विवेदी, महेन्द्र नेह, शांति सुमन, माहेश्वर तिवारी, नचिकेता, श्री कृष्ण तिवारी इसके प्रमुख पक्षधर कहे गए हैं। कहा जा सकता है कि छायावादी, प्रगतिवादी और नई कविता के गीत विभिन्न कालावधियों में लिखे गये, परन्तु नवगीत एक ऐसा गीतकाल है जिसमें ये तीनों प्रवृत्तियाँ समाहित हैं। ऐसा ही है इसलिये नवगीत के कोख से जनबोधी और फिर जनवादी गीतों का उदय हुआ। नवगीत तीन – तीन रचना – युगों को अपने साथ लेकर आया था। अपने मूल रूप में नवगीत मध्यमवर्गीय भावानुभूतियों का प्रस्तोता रहा, परन्तु सत्तर का दशक आते – आते वह विभिन्न रचनात्मक द्वन्द्वों से घिर गया। अपने समय की परिस्थितियों के दबाव के ही कारण वह विभिन्न मुद्राएँ धारण करता रहा, पर उसका गीत तत्व कहीं बाधित नहीं हुआ। गीत, नवगीत, जनगीत की विभिन्न धाराओं से बहता हुआ गीत पुनर्गीत होता चला गया है।''[1]

शांति सुमन जनवादी संचेतना की पृष्ठभूमि में आम आदमी को प्रत्यस भागीदार को मूल कारण मानती हैं। उनके अनुसार –

---

1. शांति सुमन, अक्षत, संपा. श्रीराम परिहार, खंडवा, अंक–8, पृ. 22

भावलोक गीत में पूरी निष्ठा से व्यक्त हुए। नवगीत और जनवादीगीत दोनों में ही घर – परिवार और आँचलिकता के स्वर मुखरित हुए। नई कविता की जो दुर्बलताएँ थीं, इन गीतकारों ने उनसे बचने की चेष्टा की। नवगीत की यह देन है कि उसमें जीवन जीवन की तरह, प्रेम प्रेम की तरह और संघर्ष संघर्ष की तरह व्यक्त हुए। जनवादी गीतों में श्रमजीवी संघर्षरत जनों के सम्बन्धों को खूब लिखा गया। प्रगतिवादी गीतों की तरंह जनवादी गीतों में कलात्मकता का ह्रास नहीं है, अपितु कलात्मकता और अधिक विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत हुई हैं –

''पानी काटता है जिस तरह पत्थर
काट दूँगा वह अंधेरा
जो कि बरसों से पड़ा है जहन के भीतर
हर घड़ी, हर दिन, थकन के पार
तेज करता हूँ निरन्तर रोशनी की धार''[1]

इसी प्रकार

''मुड़े हुए नाखून ईख सी गाँठधार उंगली
टूटी बेंट जंग से लथपथ खुरपी सी पसली
बलुआही मिट्टी पहने केसर का बाग जला''[2]

नवगीत ने दफ्तर की कुर्सियों और दफ्तर की सीढ़ियों की थकन को अधिक देखा था। रोजमर्रे की भाग – दौड़ के बीच कहीं एक सुगंध सना रूमाल या कमल की पंखुड़ी छुपाकर रख लिया था, जनवादी गीत में क्रांति के स्वर अधिक मुखर हुए और विद्रोह के बीच व्यवस्था परिवर्तन की बातें हुईं। दोनों ही प्रकार के गीतों मेंसकारात्मक

1. यह हरापन नहीं टूटेगा, रमेश रंजक, पृ. 35

2. शान्ति सुमन, अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 125

तत्व अधिक हैं। ये गीत गीतकार को सामान्य जन से जोड़ते हैं। गीत में निहित लय, बिम्ब, शब्द – गठन पाठकों को आत्मीय संस्पर्श देते हैं।

''छायावाद ने नवीन शिल्प और नये छंदों से कविता की एकरसता को तोड़ा था, नवगीत ने अकलात्मक गीतों के प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हुए नयी रचना – शक्ति का परिचय दिया। जनवादी गीतों ने उससे भी आगे जाकर अंतर्राष्ट्रीय मानवतावाद का परिचय दिया। अपनी धर्मनिरपेक्ष छवि का परिचय देते हुए मनुष्य की विशेषकर शोषित – पीड़ित और दलित जन की मुक्ति के लिये गीतों को हथियार के रूप में प्रयुक्त किया।''[1]

जनवादी सोच को नवगीत में व्यक्त करने वाले माहेश्वर तिवारी का कथन देखिए –

''मैना री / राजा के नाम
ये दरख्त / नदी / झरने /
तेरा बस पींजरा / पांख की कतरनें /
झूठा आकाश हुआ / सच तेरा जाल /
धूप छाँव वाले नखरे हैं /
मोह भरे हाथों / दूध – भात – चाल /
मैना री / सांझ – भोर प्यास लगी फरने /
पेर लगा चोंच में उतरने /''[2]

नवगीत में जनवाद की दस्तखें निराला बहुत पहले दे चुके थे जैसे –

ऊँट बैल का साथ हुआ है।

1. शान्ति सुमन, नवगीत शिखर, भव्य भारती विशेषांक, पृ. 37
2. माहेश्वरी तिवारी, लोट आएंगे सगुन पंछी, पृ.23

"कुत्ता पकड़े हुए जुआ है।

रूखा होकर अकड़ गया है।

जीवन लकड़ी का लड़का है।"[1]

यहाँ हम कह सकते हैं कि नवगीत की जमीन लोकगीत की सुगंध से सराबोर है। इसकी बहुत बड़ी पूँजी आंचलिक संस्कृति को व्यक्त करने वाले लोक साहित्य से अनुप्रेरित है। इसी प्रकार राजनीतिक परिवेश में जनवादी संचेतना भले ही किसी पूर्वाग्रही सोच से आरोपित रही हो किंतु आम आदमी की मौजूदगी और उसके संत्राक को नवगीतों में स्थान अवश्य मिला है। शलम श्री राम और रमेश रंजक के जनवादी सोच के परिस्कृत आयामों की नवगीतों में सन्निहिति को नकारा नहीं जा सकता।

गीतों या नवगीतों में जनवाद के नाम पर हो अथवा आंचलिकता के नाम पर यह तो स्पष्ट है कि इनमें लोक सम्पृक्ति की मौजूदगी इस नवगीत विधा का **एक महत्वपूर्ण तत्व है।** पर उसे गीत में औजार बनाने के लिए जरूरी नहीं है कि लोकभाषा के शब्दों की भरपूर उपस्थिति के रूप में ही देखा जाए। या केवल लोक धुनों को ही रचना में स्थूलतः साहित्यिक माहौल दिया जाए। गीत की लय को सांस्कृतिक लय यानी भारतभूमि की मिट्‌टी में धड़क रहे तीन चौथाई से अधिक जीवन (लोक जीवन) की लय में पिरोया जाये। आगे आने वाले समय के लिए यह गीत संदर्भ का एक जरूरी संकेत है। दूर-संचार के संसाधनों की गहमा गहमी में चल रही पदार्थीकरण की तेज प्रक्रिया के कारण विचारधारा पर तकनीक के पूर्ण आधिपत्य की भविष्यवाणियों के प्रभाव को हिन्दी कविता का यह गीत-स्वरूप ही क्षीण कर सकेगा। क्योंकि इसमें मिट्‌टी का वह ताप बरकरार है जो सामाजिक इकाइयों में वैचारिक संगठन के क्षरण के दौरान भी उन इकाइयों की इयत्ता और सत्ता सुरक्षित रख पाने के लिए मानवीय

1. निराला-रचनावली भाग-2, पृ. 431

आस्था और विश्वास का संवल देकर उसे यथावत शक्तिमान बनाए रखने में सहायक होगा। ''आधुनिकतावादी सोच में भौतिक पदार्थों के संश्लेष से ही जीवन-चेतना के अभ्युदय की बात इस देश-भूमि के परिप्रेक्ष्य में एक भ्रामक अंदेशा भर ही है। पश्चिम में डूबते हुए सूरज की ओर देख-देखकर केवल भयातुर होते रहने की सिहरन भर है। या फिर संभावनाओं के अतिवादी छोर में खुद को जकड़ने की मिथ्या लालसा भर है। लोक सम्पृक्ति का सूत्र आज के गीत का वह सूत्र है जो आधुनिकता को भारतीय साँचे में रखकर तराशता है और भारतीय हिन्दी काव्येतिहास को मजबूती देता है। गीत संस्कृति में वर्ग चेतना नहीं लोक जीवन की गहरी साझेदारी होती है। उमाकांत मालवीय जिस वजह से नई पीढ़ी को परिष्कारों से दरिद्र घोषित करते हैं उसके पीछे लोक जीवन की इसी साझेदारी का अभाव उन्हें दिखा होगा। अपने भारतीय संस्कारों की समझ और उसे अपने अधुनातन जीवन में 'लय' की तरह पकड़ पाने की अयोग्यता-असमर्थता भी दिखी होगी। सो लोकजीवन की साझेदारी गीत-नवगीत में प्रमाणित कराने के लिए जरूरी नहीं है कि लोक में प्रचलित शब्द-समूहों की सारणियाँ बनाई जायें या उन सारणियों के रंगीन तागों से बूटों की तरह लोक-बिम्ब ही काढ़े जायें। बात अंततः उसी लय की आती है कि लोक जीवन की वह विशिष्ट लय उसमें समाहित होनी चाहिए जो लोक-संवेदना या भारतीय जीवन की मौलिक संवेदना से फूटती है। शम्भुनाथ सिंह जब कहते हैं कि नवगीत भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली कविता है तो वे भी उस आत्मा के स्वरूप को इसी संवेदना से जोड़कर देखते हैं और तभी ओम प्रभाकर भी यह कहते हैं कि नवगीत भारतीय चिन्तन की काव्यधारा है। अर्थात नवगीत में जहाँ भारतीयता की बात आती है वहीं लोक संवेदना से निवृत्त लय की बात आती है। यही मानवतावादी सोच हैं और यही गीत का सैद्धान्तिक चिन्तन भी होना चाहिए।''[1]

---

1. दिनेश सिंह, नये-पुराने, पृ. 22 (अंक सन् 1999)

अंत में यह तय किया जा सकता है कि नवगीत का अधिकांश वृत्त चाहे समाज – सापेक्ष हो या राजनीति सापेक्ष उसमें कथ्य की लोक धुनें तथा लोक सम्पृक्ति उसे अधिक सम्प्रेषित और धारदार बनाने में सक्षम रही हैं।